आपने लिखा

संदर्भ के 11वें अंक में 'सपना तो है सिर्फ सपना' (मार्टिन गार्डनर) लेख पढ़ा। लगता है कि गार्डनर काफी हड़बड़ी में थे तभी उन्होंने सपनों के बारे में फ्रॉयड की परिकल्पना को जल्दी से खारिज कर दिया। लेकिन मार्टिन ने रेम सपनों को लेकर एक बेपैर की परिकल्पना लेख में जड़ दी — "यकीनन रेम सपनों का कोई-न-कोई फायदा तो होगा ही, वरना प्रकृति उसको ईजाद करने की ज़हमत क्यों गवारा करती? . . . रात के समय जब भोजन खोजना कठिन हो जाता है, स्तनपाई जीव अपने शरीर और दिमाग को आराम फरमाने की मोहलत देते हैं और फिर सूरज उगने तक यह सिलसिला जारी रहता है।" (पेज 41)

चूंकि रेम नींद, दिन में भी ली जा सकती है इसलिए गार्डनर की उपरोक्त दलील कमज़ोर पड़ जाती है। अभी भी सपनों पर शोधकार्य हो रहे हैं इसलिए किसी परिकल्पना को खारिज कर देना ठीक नहीं लगता।

मैंने कुछ समय पहले नतालिया गोर-बुनोवा का लेख Why Do We See Dreams (हम सपने क्यों देखते हैं) पढ़ा था। उन्होंने भी रेम और नॉन-रेम के बारे में जानकारी दी। वे भी यही लिखती हैं कि व्यक्ति को रेम नींद के दौरान उठा दिया जाए तो उसे रेम सपने तो याद रहते हैं लेकिन नॉन-रेम नींद के दौरान व्यक्ति को उठाया जाए तो उसे सपने याद नहीं रहते। उनका यह भी विचार है कि एक रात के दौरान बार-बार हम नॉन-रेम और रेम नींद से गुज़रते हैं।

नतालिया बोस्टन वि. वि. के आर. ग्रीनबर्ग और सी. पर्लमेन का हवाला देते हुए कहती हैं कि रेम नींद व्यक्ति को दिन भर के कार्यकलापों, विविध परिस्थितियों से सामना करने में मदद करती है।

नतालिया अपने लेख में लिखती हैं कि जैसा कि हम जानते हैं दिमाग का बायां हिस्सा तार्किक सोच-विचार करता है और दायां हिस्सा विविध कल्पनाएं करता है। जब नींद के दौरान तार्किक सोच-विचार वाला हिस्सा किन्हीं कारणों से थोड़ी देर के लिए काम नहीं करता तब सोता हुआ दिमाग कल्पनाएं करने वाले हिस्से से जुड़ जाता है; और कल्पना प्रधान दृश्य दिखने लगते हैं जिनका तार्किकता से कोई संबंध नहीं होता।

सपनों से जुड़ा दूसरा लेख 'मंगल ग्रह के वासी ....' (फाइनमेन) काफी उबाऊ लगा। लेख के अंत में उन्होंने तीन गेंदों वाला जो चुटकुला (मनोविश्लेषणात्मक तरीके पर व्यंग्य) सुनाया वो फूहड़ लगा।

और आखिर में भारत जैसे देश में जहां लोग भोर के सपनों के बारे में मानते हैं कि यह सच होगा या लोग स्वप्न-फल पर भरोसा करते हैं, उनके लिए फ्रॉयड की परिकल्पना के सही या गलत साबित होने से कोई फर्क पड़ने वाला नहीं है। इसलिए लेख का इंट्रोडक्शन फ्रॉयड से हटकर होता तो बेहतर होता।

आरती, बी. ए. फाइनल, जबलपुर

ग्यारहवें अंक में प्रकाशित 'प्रतिरक्षा कोशिका स्वयं को नहीं पहचान सकती' व 'सूर्य ग्रहण एक रिपोर्ट' के लिए धन्यवाद। लेकिन ए. बी. सक्सेना के लेख 'पूर्व समझ

जानना ज़रूरी' को लेकर शिकायत है कि प्रश्न के साथ-साथ उनके उत्तर को भी स्पष्ट करते चलते तो ज़्यादा अच्छा रहता। सभी आठ प्रश्न सोचने के लिए प्रेरित करते हैं, इस बात के लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

'ज़रा सिर खुजलाइए' में 'कैसे बनाया बच्चे ने संतुलन' के जवाब में बल आघूर्ण को और भी स्पष्ट करना चाहूंगा।

– यदि कोई बल वस्तु पर अक्ष के पास लगाया जाए तो उसका प्रभाव कम पड़ता है (जैसा जवाब में दिया गया है कि कम वज़न की वस्तु संतुलन बिन्दु से अधिक दूरी पर रखी गई है)। किन्तु बल अक्ष से अधिक दूरी पर लगाया जाए तो उसका प्रभाव अधिक पड़ता है; जैसे किवाड़ पर कब्जे के पास बल लगाकर उसे बंद करें तो अधिक बल लगाना पड़ता है किन्तु किवाड़ के किनारे पर कम बल लगाकर उसे बंद किया जा सकता है। इस प्रकार का एक और उदाहरण है जल पंप, जिसका हत्था लम्बा रखा जाता है।

एक मुख्य बात और, संदर्भ के संपादन, प्रकाशन से जुड़े लोगों का भी संक्षिप्त परिचय दीजिए, साथ ही लेखकों का भी। लेखकों के पते भी दिए जाने चाहिए।

रामकृष्ण सामेरिया
सिंगाजी भवन के पीछे, गली नं. 6, हरदा

पृथ्वी कितनी पुरानी?

'ज़रा सिर तो खुजलाइए' स्तंभ में 'क्यों नहीं कटी बर्फ' पढ़ा। बहुत रोचक लगा। इस स्तंभ में हम बच्चों के लिए रोचक सामग्री होती है। बाकी अनेक लेख समझ में नहीं आते, तब मैं अपने अध्यापक तथा अपने पिता से पूछती हूं। इससे मुझे बहुत फायदा होता है।

मैं कक्षा 9वीं में पढ़ती हूं। विज्ञान विषय की पाठ्य पुस्तक में एक अध्याय 'विश्व' है। इसमें विश्व के जन्म का समय 15 अरब वर्ष बताया गया है, जबकि सूर्य की उत्पत्ति 4600 अरब वर्ष पूर्व बताई गई है। तो क्या सूर्य का जन्म विश्व के जन्म के बहुत पहले हुआ?

मैंने कक्षा 11वीं में पढ़ने वाली अपनी बहन से पूछा तो उसने अपनी जीव विज्ञान की किताब में पृथ्वी की उत्पत्ति का समय 20 बिलियन वर्ष (1 बिलियन = 10 खरब वर्ष) होना बताया। ये सारी चीज़ें बड़ी बेमेल-सी लगती हैं।

कृपया संदर्भ में इस गुत्थी को सुलझाने की कोशिश कीजिए।

क्षमा बिल्लौरे
1225, जे. पी. नगर,
आधारताल, जबलपुर

पिछले अंक में 'सपना तो है सिर्फ सपना' लेख पढ़ा। चूंकि मैं दो-तीन दिनों से सपनों से घिरी हुई थी, इस विषय को देखकर पढ़ने की इच्छा प्रबल हो गई।

यह जानकर आश्चर्य हुआ कि सपने दिमाग में भरे कचरे की टोकरी हैं जिसे दिमाग बाहर निकालना चाहता है। शायद इसीलिए ये इतने अंट-शंट और बेतुके होते हैं जिनका कहीं से कहीं तक कोई मतलब नहीं निकलता। "हम भूल जाने के लिए सपने देखते हैं। सपनों को याद रखना हानि-कारक है हमारा दिमाग उन विचारों को भूलना चाहता है जो सपनों में आते हैं। सपनों पर विचार करने से इसमें बाधा होती है।"

यह पंक्तियां पढ़कर मैं आश्चर्य में पड़ गई क्योंकि सपने आने के बाद मैं ही नहीं शायद सभी इन पर बहुत विचार करते हैं और उसी ओर खिंचे चले जाते हैं। मनुष्य ही नहीं कुत्ते, बिल्ली भी सपने देखते हैं यह मेरे लिए नई जानकारी थी।

सपनों के बारे में बहुत से वैज्ञानिकों के मत पढ़े। 'द ड्रिमिंग ब्रेन' में जे. एलन के विचार बहुत अच्छे लगे।

एक और बात, ईश्वर का स्वप्न में आना या उनका स्वप्न में साक्षात्कार या सशस्त्र स्वरूप दिखना क्या ईश्वर के दर्शन होते हैं? कृपया इस बारे में बताइए।

प्रियंका राय
सरस्वती विद्या मंदिर, हरदा
जिला होशंगाबाद

मार्टिन गार्डनर के इस लेख का एक प्रमुख उद्देश्य शायद यही समझाना है कि सपनों के बारे में हम आज भी बहुत कुछ नहीं समझते हैं। परन्तु यह एक ऐसा विषय है जिस पर दुनिया भर में शोधकार्य चल रहे हैं। 'सपने क्यों आते है हमें?' इसकी विवेचना करते हुए इस सवाल की बहुत-सी व्याख्याएं हैं;इस लेख में उन्होंने इन व्याख्याओं व उनके पीछे के तर्क को रखने का प्रयत्न किया है। इन्हीं में से एक मत है कि सपने दिमाग की अनुपयोगी जानकारी हटाने की एक प्रक्रिया है। इसे ही एकमात्र या सही मत मान लेना शायद बहुत उचित नहीं है।

इसकी सामग्री केवल शिक्षकों के लिए ही नहीं छात्रों के लिए भी उपयोगी है। इस पत्रिका में विज्ञान मॉडलों को भी स्थान मिलेगा तो और अच्छा रहेगा।

राजेश्वर पोरवाल, रामपुरा, मंदसौर

एक साथी के घर संदर्भ पढ़ी। बेहद रुचिकर ज्ञान का अथक भंडार मिला इसमें। वास्तव में ऐसी पत्रिका देश के विज्ञान में रुचि रखने वालों के लिए प्रेरणास्पद होगी।

महेशचन्द गुप्ता, जयपुर

शिक्षकों के लिए यह पत्रिका विशेष उपयोगी रहेगी। यद्यपि हायर सेकेंडरी के बालकों को भी पढ़ने दी जाए। यह अंक रोहना में शुरू हुई एक निजी शाला (हाई स्कूल) की लाइब्रेरी में पहुंचाऊंगा।

सुरेश दीवान, रोहना,
जिला होशंगाबाद

संदर्भ विज्ञान शिक्षण की एकमात्र संपूर्ण पत्रिका है। ग्यारहवें अंक में 'गूलर के फूल क्यों नहीं दिखाई देते?' – एक रोचक

जानकारी लगी। इसके अलावा 'ये मुसाफिर दुनिया के' और 'सपना तो है सिर्फ सपना' लेख अच्छे लगे। प्रवासी पक्षियों और पशुओं की दुर्लभ जानकारी के लिए अरविंद गुप्ते को मेरी ओर मे धन्यवाद। यह पत्रिका मुझे बहुत पसंद है क्योंकि इसमें हमें विज्ञान की उच्चस्तरीय जानकारी प्राप्त होती है। पत्रिका के लेख इतने रोचक होते हैं कि इन्हें पढ़ने को मन लालायित रहता है। पिछले दो अंक मैंने अपनी एक मित्र से लेकर पढ़े हैं।

दीप्ति तोमर, कक्षा दसवीं
मेंट मेरीज़ स्कूल के पीछे, हरदा

बादल का गरजना और रेल का सफर....

इस अंक के साथ लगता है कि संदर्भ ने शिक्षा से जुड़े लोगों की दुनिया में अपना स्थान बना लिया है। इस बात का अहसास मुझे उस समय गहराई से हुआ जब मैं चंडीगढ़ से दिल्ली रेल से आ रहा था। सोनीपत के पास किसी दुर्घटना के कारण गाड़ी रोहतक हो कर आ रही थी। सो पांच घंटे का सफर आठ घंटे में होने की संभावना थी। खैर, सामने एक परिवार दो बच्चों के साथ सफर कर रहा था। उन दो बच्चों में एक बच्चा दस साल का रहा होगा, जो अपनी मां से सवाल कर रहा था। मां पूरी कोशिश कर रही थी जवाब देने की पर अक्सर चूक जाती थी या चुप हो जाती। उन बच्चों के पिता कुछ अलग बैठे थे, उदास से।

बाहर बादल थे काफी घने-काले। बिजली चमक रही थी और ज़ोरदार गड़गड़ाहट भी। स्वाभाविक था कि बच्चे का ध्यान रेल की पटरी बदलने से बादलों, बिजली व बारिश की ओर गया। उस वक्त तक मैं संदर्भ के दसवें अंक में छपे सवालीराम कॉलम में 'बादल क्यों गरजता है' पढ़ चुका था। मैंने चुपके से संदर्भ निकाली और सवालीराम वाला पेज खोलकर उस बच्चे के हाथ में दिया। बच्चे ने पढ़ने की कोशिश की फिर खिड़की से बाहर बादलों को देखने लगा। हल्की-सी बारिश शुरू हो चुकी थी। मां ने संदर्भ लेकर पढ़ना शुरू किया। उसके बाद का दृश्य देखने लायक था। मां ने बच्चे के गले में हाथ डालकर संदर्भ सामने रखकर पूरा सवालीराम पढ़ डाला। बीच-बीच में रुककर मां बच्चे को समझाती रही। बातचीत होने लगी तो पता चला कि हम सबकी समझ में पहली बार आया है कि बिजली, गड़गड़ाहट व बारिश के लिए सदा ही बादलों की आवश्यकता नहीं होती; और यह भी कि कई बार ऐसा क्यों होता है कि बिजली तो खूब दिखाई देती है लेकिन आवाज़ बिल्कुल सुनाई नहीं देती।

बात आगे बढ़ी तो देखा कि कुछ लेख भौतिक व रसायन शास्त्र के हैं तो कुछ इतिहास और गणित के। और हर लेख में कुछ ऐसे सवाल हैं जो बच्चे अक्सर पूछते हैं लेकिन शिक्षक व माता-पिता शर्म के कारण अक्सर गुल कर जाते हैं। दिल्ली में

कभी दास वंश का राज्य था यह तो सभी जानते हैं लेकिन यह शायद बहुत कम लोगों को मालूम होगा कि किन राजनैतिक व सांस्कृतिक कारणों की वजह से ऐसा हुआ। ऐसा नहीं हुआ कि केवल कुतुबुद्दीन व तुगलक राजा हो गए; बल्कि अजीज शराबवाला, फिरोज़ नाई, मनका बावर्ची, लद्दा माली आदि भी ऊंचे ओहदों पर पहुंच गए। लगता है दास युग में सचमुच सामाजिक क्रांति आ गई होगी। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। राजा कोई भी हो राजनैतिक ढांचा आसानी से नहीं बदला जा सकता। सब गुलाम राजा – "एक पूर्व निर्मित ढांचे को सुदृढ़ कर रहे थे। वह ढांचा सेनापतियों और उच्च अधिकारियों की सत्ता कायम करने के लिए ही बना था। ढांचा सैनिक शक्ति पर आधारित था और इसका मकसद था किसानों व कारीगरों से लगान वसूल करना .....।"

मां की शक्ल से साफ था कि वह इतिहास को कुछ अलग तरह से महसूस कर रही थी। गाड़ी रोहतक से निकल चुकी थी। रात के ग्यारह बज रहे थे। बच्चे को काफी नींद आ रही थी।

'एबेकस' पर भी चर्चा होने लगी। पिता कुछ पास में आकर बैठ गए थे अब तक। बच्चा थककर सो गया था। हमें लगा 'एबेकस' एक खिलौना है जिससे सभी बच्चे पहले खेला करते थे। अब एबेकस का प्रयोग भला कौन करता है। इस बारे में तो कोई जानकारी ही नहीं थी कि एबेकस से भाग व गुणा कैसे हो सकता है। सबसे मज़ेदार बात तो यह कि चीन व जापान जो दुनिया को कम्प्यूटर व कैल्कुलेटर बनाकर देते हैं स्वयं एबेकस का इस्तेमाल खूब करते हैं।

दिल्ली पहुंचने ही वाले थे। मां ने जल्दी से संदर्भ का पता लिखा। जाते-जाते कुछ और बातें हुईं। मुझे लगता है कि शिक्षकों और मां-बाप के लिए शायद छपाई थोड़ी मोटी होनी चाहिए। चित्र भी कुछ अधिक साफ रहें तो अच्छा लगे। और हां, थोड़ी बहुत जगह तो पत्रिका में खाली छोड़ देनी चाहिए। दिलो-दिमाग व आंखों के लिए कल्याणकारी होगा।

रमाकांत अग्निहोत्री
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली